International Journal of Humanities and Arts

ISSN Print: 2664-7699
ISSN Online: 2664-7702
Impact Factor: RJIF 8.53
IJHA 2025; 7(2): 407-409
www.humanitiesjournals.net
Received: 05-09-2025
Accepted: 11-10-2025

पूरन सिंह यादव
शोध छात्र (जे.आर.एफ), प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, प्रो. राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैय्या) विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश, भारत

Corresponding Author:
पूरन सिंह यादव
शोध छात्र (जे.आर.एफ), प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, प्रो. राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैय्या) विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश, भारत

पूर्व मध्यकालीन भारत में जाति व्यवस्था

पूरन सिंह यादव

DOI: https://www.doi.org/10.33545/26647699.2025.v7.i2f.252

सारांश
भारतीय सामाजिक संरचना के अंतर्गत जातियों के विकास में व्यवसायों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विशेषकर पूर्व मध्यकाल में जातियों का गठन विकास और विस्तार का आधार मुख्यतः व्यवसाय ही था। मनु के अनुसार जातियों का उद्भव वर्णों के पारस्परिक मिश्रण अवैध विवाह सम्बन्ध और कर्तव्यों की उपेक्षा के कारण हुआ। मुसलमानों के वाह्य आक्रमण से तथा समाज की आंतरिक अव्यवस्था ने पारस्परिक श्रेष्ठता शौचाचार, धार्मिक सक्रियता आदि ने नई जातियों के उत्पन्न होने के लिये अनुकूल कारक उपस्थित किया। मनुस्मृति में उल्लिखित अधिकांश कथित वर्णसंकर जातियाँ वस्तुतः जनजातियां या विदेशी जातियाँ हैं। मेधातिथि ने अनुलोमों का वर्ण निर्धारण माता के वर्णानुसार किया और प्रतिलोमों के शूद्रों के अधिकार और कर्तव्यों का अधिकारी माना। मनु के कथन 'नास्ति तु पंचम' पर टिप्पणी करते हुए कुल्लूक भट्ट ने वर्णसंकर जातियों के लिये लिखा की 'जो संकीर्ण जातियाँ हैं वे माता–पिता के भिन्न जाति की होती हैं अर्थात् उनमें जाति का अंतर तो हो जाता है, वर्ण का अंतर नहीं हो पाता है। कुल्लूक का उक्त कथन तथाकथित वर्णसंकर जातियों के हिन्दू समाज में समायोजन की प्रवृत्ति का परिचायक है।

कुटशब्दः जाति व्यवस्था, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कायस्थ, वर्णव्यवस्था, अस्पृश्यता, पूर्व मध्यकाल

प्रस्तावना
भारत में जाति व्यवस्था बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में आर्य समाज चार वर्णों में विभक्त था। जाति का शाब्दिक अर्थ 'उत्पन्न करना' या 'उत्पन्न होना' होता है। जन्म से समान गुण धर्म वाली वस्तुओं को एक जाति कहा जाता है। जाति समानता के आधार पर किसी एकत्रण को इंगित करती है। सामाजिक संगठन के संदर्भ में जाति का विशेष अर्थ होता है। उस अर्थ में भारतीय समाज के पीढ़ी दर पीढ़ी समान व्यवस्था करने वाले अंर्तविवाही समूहों को जाति या कास्ट कहते हैं।

अध्ययन का उद्देश्यः भारतीय सामाजिक व्यवस्था की वास्तविक स्थिति तथा उसके महत्व को समझने की दृष्टि से जाति व्यवस्था का अध्ययन महत्वपूर्ण है। इस शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य भारत में जातियों का उद्भव एवं उनके विकास के पीछे अन्तर्निहित कारणों को जानकर सामाजिक जाति–पाति तथा भेदभाव की भावना को तथा समाज में व्याप्त सत्य संबंधी भ्रामक धारणाओं को दूर करने में सहायता की जा सकती है।

विषय विस्तारः जाति शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'जन' धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म अथवा भेद से लिया जाता है। वस्तुतः इसका संबंध प्रजातीय अथवा जन्मगत आधार पर स्थित व्यवस्था से माना जा सकता है। भारतीय जाति व्यवस्था की उत्पत्ति किसी एक कारण से नहीं है। इसके अनेक कारण थे। भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, जादू टोने में विश्वास, निषिद्ध वस्तुओं के सेवन, आत्मा के स्वरूप के विषय में विभिन्न विचारों से भी जातियों की उत्पत्ति होती है।

सर्वप्रथम भारत में वर्णव्यवस्था की शुरूआत हुई ऋग्वेद के दसवें मण्डल में चार वर्णों का विवरण मिलता है। ये वर्ण व्यवसाय आधारित थे इसमें जाति व्यवस्था, जैसी जटिलता नहीं थी, ये वर्ण व्यक्तिगत विशेषता पर आधारित थे ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था जन्म आधारित नहीं थी।

उपनिषदों और महाभारत से विदित होता है कि चातुर्वर्णों के अतिरिक्त समाज में अनेकानेक जातियाँ थी जिनकी उत्पत्ति अनुलोम और प्रतिलोम जैसे अंर्तजातीय विवाह से हुआ था। ऐसी विभिन्न जातियाँ तत्कालीन समाज में सवर्णता या अवर्णता का बिना ध्यान रखे ही कुछ लोगों द्वारा विवाह सम्बन्ध स्थापित करके उत्पन्न हुई थी। धर्मसूत्रों में भी ऐसी विभिन्न जातियों का उल्लेख है जो अनुलोम और प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न हुई थी।

अनेक स्मृतिकारों के अनुसार भी विविध जातियों की उत्पत्ति अन्तर्वर्णीय विवाह से हुई थी। मनु के अनुसार ऐसे विवाह से उत्पन्न संतान वर्ण संकर कही गयी। बृहस्पति ने भी अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाहों को वर्ण संकरता का कारण माना है। पूर्व मध्य युग तक आकर वर्णसंकर जातियों की संख्या 64 हो गयी थी। पूर्व मध्यकाल में हिन्दू समाजिक वर्ण व्यवस्था में वर्णों के अंतर्गत अनेक प्रकार हो गये। उदाहरण के लिये अनेक प्रकार के ब्राह्मण हो गये, क्षत्रिय हो गये, वैश्य हो गये और शूद्र हो गये। मध्य युग तक आकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के अनेक प्रकार विकसित हो गये। कम से कम 34 प्रकार के ब्राह्मण हो गये, 36 प्रकार के क्षत्रिय और 84 प्रकार की वणिक् जातियाँ । राजतरंगिणी में 36 प्रकार के क्षत्रियों का उल्लेख मिलता है। क्षत्रियों को तीन प्रकार की श्रेणियों में बांटा गया था– (1) सक्षत्रीय (2) सुक्षत्रिय (3) शुद्ध क्षत्रिय

गुप्तोत्तर काल में ब्राम्हण में पूर्णतया जन्म के आधार पर उनकी जाति मानी जाती थी। 'कान्हड़दे–प्रबंध' के लेखक पद्यनाभ ने अपने को 'विसल नगरा' ब्राह्मण कहा है। लक्ष्मीधर ने अपने ग्रंथ 'विरूद्ध–विधि विध्वंस' में 'सागर' ब्राह्मणों का उल्लेख किया है। भीमदेव द्वितीय के पाटन अभिलेख में रायकवाल सकराय माता अभिलेख में 'दध्य' या 'दाहिमा, विक्रम संवत् 982 के पुष्कर अभिलेख में 'पुष्कर' और अन्य अभिलेखों में 'आवसथिक', 'पुरोहित', 'द्विवेदी', 'त्रिवेदी', 'चतुर्वेदी', 'मिश्र', 'दीक्षित' और त्रिपाठियों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार बंगाल में ब्राम्हणों में राढ़ीय, वारेन्द्र, कुलजी आदि उपजातियां थी। उत्तर प्रदेश में 'कन्नौजिया' और 'सरयूपारी' बिहार में ब्राह्मणों को मैथिल, शकद्वीपी, कश्मीर में सिंहपुर मठ में द्राविड़ आदि उपजातियां बन गयी थी। तुर्क अफगान आक्रमणों से बचने के लिये कुछ उदीच्य ब्राह्मणों ने उत्तर प्रदेश से भागकर गुजरात में शरण ली। नगर ब्राह्मणों ने बहुत धन संपत्ति इकट्ठी कर ली थी। उत्तर प्रदेश और कश्मीर में वे सामंत हो गये थे और 'ठक्कर' कहलाते थे। उनमें कुछ शिल्पी थे जिनका कार्य शूद्रों का समझा जाता था।

विवेच्यकाल में राजस्थान में भीनमाल धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व का नगर था। संभवतः इसी कारण 'श्रीमाल' ब्राम्हण अपने को अन्य ब्राम्हणों से श्रेष्ठ समझते थे। गुजरात में आनंदनगर भी सांस्कृतिक महत्व का स्थान था, इसीलिए 'नागर' ब्राह्मणों का उस प्रदेश में बहुत आदर था। ब्राह्मणों ने रक्त शुद्धि पर अत्यधिक बल दिया। उन्होंने रहन–सहन और खान–पान के विषय में अनेक प्रतिबंध लगाये जो 'कलिवर्ज्य' कहलाते हैं। 'रोमिला थापर' का मत है कि पंजाब के मैदान में ब्राह्मणों का वहां के समाज में कभी भी महत्वपूर्ण स्थान नहीं रहा, वहां के निवासी जैसे की मद्र के निवासी ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धार्मिक कर्तव्यों को नहीं करते थे और वर्जित सामाजिक ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धार्मिक कृत्य लोकप्रिय हो सके। पूर्व मध्ययुग तक क्षत्रियों की 36 प्रकार की जातियाँ हो गयी थी। राजतरंगिणी में भी इनकी संख्या 36 ही बतायी गयी है। 'सभाश्रृंगार' में भी 36 प्रकार के क्षत्रियों का वर्णन किया गया है। पूर्व मध्य युग तक क्षत्रिय राजकुलों के अतिरिक्त क्षत्रियों के और भी प्रकार हो गये थे। मागध क्षत्रिय, इक्ष्वाकु क्षत्रिय, भोज क्षत्रिय जैसे क्षत्रिय प्रकारों का वर्णन हेमचन्द्र ने किया है। चंदेल, गहड़वाल आदि और भी राजपूत जातियां थी। इनके अतिरिक्त उत्तर भारत में सूर्यवंशी, चंद्रवंशी, रघुवंशी आदि प्राचीन क्षत्रिय जातियाँ भी रही है।

वैश्यों पर वर्ण–सिद्धान्त का प्रभाव अधिक पड़ा। राजस्थान के वैश्यों में अग्रवाल, माहेश्वरी, जायसवाल, खण्डेलवाल और ओसवाल सभी अपनी उत्पत्ति क्षत्रियों से बतलाते हैं। इसका अर्थ है कि उनकी वैश्यों में गणना होने का आधार वर्ण था क्योंकि यह परिवर्तन उनके चरित्र, व्यवसाय, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास में आधार पर हुआ। इसका मुख्य कारण ये था कि वे अहिंसा के सिद्धान्त के अनुयायी और शाकाहारी हो गये थे। वैश्य और वणिकों के भी इस युग में अनेक प्रकार बन गये थे। इनके इस समय तक 84 प्रकार मिलते हैं। वैश्यों में भी अनेक उपजातियां बन गई थी जैसे की घर्कट, प्रागवाट और श्रीमाल। भविष्यकथा का लेखक धनमाल धर्कट जाति का था। प्रागवाटों के पूर्वज पश्चिमी राजस्थान में प्राक देश के निवासी थे। वैश्यों की धूसर उपजाति का उल्लेख नवीं शती ई. के एक अभिलेख में है।

शूद्रों में भी वर्ण–सिद्धान्त का अधिक प्रभाव पड़ा। शूद्रों में अनेक संकर जातियों, किसानों, शिल्पियों, की गणना की गई है। इस काल के अभिलेखों में कुम्हारों, मालियों, तमोलियों, संगतराशों, शराब बनाने वालों और तेलियों को शूद्र कहा गया है। विवेच्यकाल के साहित्य में सुनारों, बढ़इयों, कसेरों, नाईयों, गड़रियों, दर्जियों, कहारों और अहिरों को भी शूद्र कहा गया है। शूद्रों में जातियों की संख्या में अभिवृद्धि सर्वाधिक दिखाई देती है। प्रतिलोम और अनुलोम विवाह तथा वैध–अवैध संबंधों के परिणाम स्वरूप अनेक मिश्रित जातियां समकालीन समाज में उत्पन्न हुई। अनेक जनजातियों को भारतीय समाज में शूद्र वर्ण के अंतर्गत सम्मिलित कर लिया गया। 'अभिधान चिन्तामणि' में शिल्पकारों को शूद्रों के अंतर्गत रखा गया है। 'कुवलयमाला' में चाण्डालों, भीलों, डोमों सुअर पालने वालों और मछुओं की गणना अंत्यजों में की गयी है। 'समराइच्चकहा' में 'धोबियों', 'चमारों, और 'बहेलियों, को भी अंत्यज कहा गया है। गुप्तोत्तरकाल में जाति के रूप में कायस्थों का उदय सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण घटना है। कायस्थ जाति के लोग मूलरूप से राजकीय सेवा से सम्बद्ध रहे हैं उनका सर्वप्रथम उल्लेख 'याज्ञवल्क्य' ने 'लेखक' के रूप में किया है किन्तु उनका गुप्तकालीन अभिलेखीय प्रमाण भी मिलता है। इनका प्रधान कार्य केवल लेखकीय ही नहीं था बल्कि वे लेखाकरण, गणना, आय–व्यय और भूमिकर के अधिकारी भी होते थे। हरिषेण (दसवी शदी) ने उनके लिये 'लेखक' और 'कायस्थ' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दू समाज में 12वीं सदी तक अनेकानेक जातियाँ हो गयी, जो पेशे के साथ–साथ आचार–विचार में भी एक दूसरे से अलग थी, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जैसी उच्च जातियाँ निम्न पेशा अपनाने वाली जातियों से प्रायः अलग–अलग रहती थी। शास्त्रकार विष्णु ने यह व्यवस्था दी की अगर इन तीन उच्च जातियों के सदस्य किसी बढ़ई, लोहार, सोनार, गन्ने के रस या अन्य द्रव पदार्थ के व्यापारी, तेली, बुनकर, रंगरेज, बेत का कार्य करने वाले या धोबी से भोजन ग्रहण करते हैं, तो उन्हें प्रायश्चित स्वरूप तप करना पड़ता था। निश्चय ही भेद–भाव और उच्च निम्न की यह भावना समाज में कठोर रूप से व्याप्त थी। जाति भेद में कभी भी उदारता का लेश मात्र नहीं था। निम्न जातियों को न राजनीति में भाग लेने का अधिकार था न सामाजिक उत्सवों में। वे न शिक्षा प्राप्त कर सकते थे, न अपना पेशा परिवर्तित कर सकते थे। वे अपनी निम्न स्थिति में ही रहने के लिये बाध्य थे। अपनी इच्छा और आकांक्षा को दबाकर वे पशुवत जीवन व्यतीत करते थे।

निष्कर्ष

पूर्व मध्यकाल में भारतीय समाज में जातियों की संख्या में वृद्धि सर्वाधिक महत्वपूर्ण समाजिक परिवर्तन था। जातियों की संख्या में वृद्धि व्यवसाय स्थान क्षेत्र आदि के आधार पर हो रही थी। मुसलमानों के वाह्य आक्रमण से तथा समाज की आंतरिक अव्यवस्था ने पारस्परिक श्रेष्ठता धार्मिक सक्रियता आदि ने नई जातियों के उत्पन्न होने के लिये अनुकूल कारक उपस्थित किया। अनुलोम प्रतिलोम वैवाहिक संबंध के अतिरिक्त वैध तथा अवैध स्त्री पुरूष संबंध ने अनेक ऐसी मिश्रित जातियों का जन्म दिया जिन्हें चातुर्वण्य व्यवस्था में नयी जाति के रूप में मान्यता प्राप्त हुई।

संदर्भ

1. श्रीवास्तव, ए.एल., दिल्ली सल्तनत, शिवलाल एण्ड अग्रवाल कम्पनी, आगरा, 1965, पृ. 348
2. अलबेरूनी वर्णित भारत, अनुवाद संतराम बी.ए., जयपुर, 1994 पृ. 63
3. वहीं, पृ. 63–64
4. वहीं, पृ. 63–64
5. निजामी, के.ए., रीलिजन एण्ड पालिटिक्स इन इण्डिया, दिल्ली 2009, पृ. 138
6. श्रीवास्तव, ए.एल., वही, पृ. 57–58
7. टॉड, कर्नल, राजस्थान का इतिहास, प्रथम भाग, अनुवादक केशव ठाकुर, जयपुर, 2003, पृ. 358
8. निजामी, के.ए. रीजिनल एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया, दिल्ली, 2009, पृ. 69
9. अलबेरूनी वर्णित भारत, वही, पृ. 63३64
10. वही, पृ. 64
11. श्रीवास्तव, ए.एल., भारत का इतिहास, आगरा, पृ. 135
12. अशरफ, के. एम., लाईफ एण्ड कंडीशंस दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान, दिल्ली, 1959, 181
13. झारखण्ड चौबे एवं कन्हैयालाल, श्रीवास्तव, मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, पृ. 8–9
14. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, 2, पृ.–59
15. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, पृ.–567
16. राजतरंगिणी
17. सभा श्रृंगार, पृ.–149
18. दशरथ शर्मा, 'रास्थान थ्र दि एजिज' पृ. 438
19. बृजनारायण शर्मा, 'सोसल लाइफ नार्दर्न इण्डिया', पृ.–52
20. महाभारत, वनपर्व, 80. 31–33